

च कार्यम् । अत एवोक्तम्, 'एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तये'दिति । एवं प्रपत्तौ भगवानशक्यमपि साधयिष्यतीति निष्कर्षः । अत एव तद्विवृतौ प्रभुचरणैरूचे 'सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदय'मिति । तथा सति चिन्ताले-
शोपि नास्तीति प्रतिबन्धाभावे सिद्धे निवेदनसिद्धौ मुख्यभक्तिलाभः, तेन च भगवत्प्रा-
प्तिरिति चिन्ताकरणनिराकरणनिरूपणस्य सार्थक्यमिति कोविदा एव विदाङ्कुर्वन्तु ।

नवरत्नप्रकाशे, 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः ।' इयं फक्किका पूर्वफक्किकया न संगच्छत इति बहूनामार्याणां महानेवोद्यमोऽस्मिन्नन्धे नानाविधोऽस्ति । परन्तु धमशतेनापि न लगतीयं फक्किका । तत्रायं निष्कर्षो बोध्यः । इह लेखकादिदोषवशात्फक्किकानां वैपरीत्यं जातं लेखने । अतः फक्किकानामर्थस्वारस्यं विचार्य पूर्वापरभावं निर्धार्य फक्किका लिख्यन्ते । तथाहि । इह पूर्व 'निवेदने भजनाधिकारस्तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः पाशाखुरिति चेत्' इति फक्किकास्ति । तत्रोत्तरमुक्तम्, 'अत्र वदाम' इत्यादिना । तत्र 'गायत्र्युपदेशजसंस्कार-
व'दित्यन्तेन निवेदनस्यावश्यकत्वमुक्त्वा निर्वाहः केन कार्य इत्याकाङ्क्षायां 'निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसा-
दत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा' इति फक्किकास्ति पठिता । तथाच देहादिनिर्वाहः केन कार्य इत्याकाङ्क्षायां निवेदितेन निर्वाहः कार्य इत्युत्तरं सिध्यति । तत्र किं प्रमाणमित्या-
काङ्क्षायां 'दासधर्मत्वात्' इत्युक्तम् । तदग्रे भगवद्वाक्यं प्रमाणत्वेनोपन्यस्य निवेदितेन निर्वाहः कार्य इति ज्ञापनार्थं 'मुच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यै 'रात्मशोध-
कत्वाच्चे'ति पठितम् । तदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृते-
ऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिरिति फक्किकया अन्यथानुपपत्तिः प्रद-
र्शिता । तदग्रे 'अपरञ्चे'त्यारभ्य 'अनिवेदितस्य निषिद्धत्वा'दित्यन्तेन निवेदनदानयोः पुनः स्वविनियोगतदभावाम्यां वैलक्षण्यं प्रदर्श्य भगवदनिवेदितेन निर्वाहं निषिध्य भगव-
न्निवेदितपदार्थेन भगवदुपभुक्तशिष्टेन प्रसादतया प्राप्तेन निर्वाहः कार्य इति सिद्धान्तितम् । एवं फक्किकाक्रमे सर्वोऽपि ग्रन्थः सङ्गतो भवति । तथाच सिद्धमेतत् । 'द्विजस्य वैदिके कर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारव'दिति फक्किकाया अग्रे 'निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा । दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैरात्मशोधकत्वाच्चे'त्यन्तो ग्रन्थो ज्ञेयः । एतदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहो-
त्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरञ्च । दाने हि न स्वविनियोगः । न तु निवेदने । अन्यथा निवेदितान्नादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदि-
तस्य निषिद्धत्वात्' इत्यन्तो ग्रन्थोऽस्ति । तदग्रे 'किन्तु प्रभौ निवेदितार्थविनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो न वेति भवति चिन्ते'त्यादिरूपो ग्रन्थोऽस्तीति सर्वमनवद्यम् ।

अन्तःकरणप्रबोधः

पञ्चटीकाभिः समलंकृतः

१. श्रीगोकुलनाथानां विवृतिः
२. श्रीरघुनाथानां विवरणम्
३. श्रीहरिरायानां विवृतिः
४. श्रीवज्रराजानां विवरणम्
५. श्रीपुरुषोत्तमानां विवरणम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-
सप्त-पीठान्तर्गत-षष्ठ-पीठाधिष्ठित-नित्यलीलास्थित-
गोस्वामिश्री १००८ श्रीवल्लभलाल-महाराजानां-
स्मृतौ-तेषां-श्रीमती-कृष्णावती-बहूजी-महा-
राजश्रीत्येताभिः-प्रकाशितः

प्रकाशक ।

गोस्वामी १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज (षष्ठपीठाधीश्वर) के
श्रीकृष्णावती बहूजी महाराज,
श्री कल्याणरायजीकी हवेली, बैंक रोड, बड़ौदा, गुजरात ३९०००६, भारत

साधारण संस्करण २००० प्रति
राज संस्करण १००० प्रति
श्रीवल्लभाब्द : ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्द्रल चौपाटी बिल्डिंग चौपाटी,
बम्बई—४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

अन्तःकरणप्रबोध ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुकी सन्यासग्रहण करनेसे पूर्वकी तथा षोडशग्रन्थोंमें योजित ग्रन्थोंमें अन्तिम कृति है.

श्रीयदुनाथजी—विरचित वल्लभदिग्विजयके अनुसार सन्यासग्रहण करनेके बाद श्रीमहाप्रभु भूतलपर ३९ दिन विराजे थे और यह सन्यास आपने इस ग्रन्थमें वर्णित तृतीय भगवदाज्ञाके पालनहेतु लिया था. अतः आषाढ शुक्ल द्वितीयासे ३९ दिन पहले यानि वैशाख (व्रज जेष्ठ) कृष्णा सप्तमीके आसपास किसी दिन वि. सं. १५८७ में इस ग्रन्थकी रचना हुई यह माना जा सकता है.

कुछ आधुनिक विद्वान् इस ग्रन्थमें वर्णित तीन भगवदाज्ञाओंकी व्याख्या श्रीमहाप्रभुको दोबार हुई अस्वस्थता तथा अन्तमें श्रान्ति तथा देहत्यागकी आन्तरिक प्रेरणा के रूपमें देते हैं. जो बात इन विद्वानोंके गले नहीं उतरती है वह है इन तीन भगवदाज्ञाओंका चमत्कारिक रूप! श्रीमहाप्रभुके प्रति किसी अतर्कित लगावके कारण ये मिथ्याभाषणके आरोपका सहस्र जुटा नहीं पाते. अतः भक्ति और श्रान्ति के सहारे इन स्पष्टतम विधानोंकी अतीव अस्पष्ट और अटपटी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं. इन विद्वानोंको कभी लगता है कि किन्हीं श्रान्तिके क्षणोंमें ये तीन भगवदाज्ञाकी श्रान्तियां पैदा होगयी होंगी—कभी इन्हें लगता है कोई तीन सांघातिक बिमारियोंसे पैदा हुई निराशाके वश श्रीमहाप्रभु इन बिमारियोंको परलोक सिधारनेकी भगवदाज्ञा ही मान बैठे हैं—कभी इन्हें लगता है कि सम्भवतः किसी अन्तरवाणीके रूपमें श्रीमहाप्रभुने लोक-त्यागका आदेश सुना हो और उसे ही श्रद्धावश भगवदाज्ञा मान ली हो!

न पूर्ण श्रद्धा और न पूर्ण अश्रद्धा अर्थात् मध्यमार्गको अपनानेकी मनोवृत्ति-वश अपनी निराधार कल्पनाओंको बौद्धिकताके रूपमें ये विद्वान् मान्य करना चाहते हैं. जगतके कारण स्थिति या प्रयोजन को ईश्वरीय चमत्कार मान कर भी जो चमत्कृत नहीं होते, वे ईश्वराज्ञाके श्रवणको 'चमत्कारपूर्ण' घटना कहकर अस्वीकार करना चाहते हैं. इससे अधिक चमत्कारपूर्ण तार्किकता और क्या हो सकती है!

इन कपोलकल्पित व्याख्याओंको प्रस्तुत करनेका एकमात्र हेतु स्वयम्की तूटती हुई श्रद्धाको कयञ्चित जोड़ना होता है. पर अपने इस मोहमें ये विद्वान् अक्सर यह बात भूल जाते हैं कि ऐसी अटपटी कल्पनासे श्रीमहाप्रभुका न तो कोई बुद्धिवैभव और न कोई चारित्रिक महत्ता ही सिद्ध होती है. जिस व्यक्तिका मनोबल दोबार केवल बीमार पड जानेपर तूट जाता हो उसे 'युगप्रवर्तक व्यक्ति' कैसे माना जा सकता है? दोबारकी बिमारीसे पनपी निराशाको देहत्यागकी भगवदाज्ञा मान लेनेवाले भ्रान्त आत्मघातीको किस अर्थमें बुद्धिमान् माना जा सकता है?

भारतवर्षकी तत्कालीन नितान्त विषम परिस्थितिमें किस अदम्य उत्साह निष्ठा और संकल्प के साथ श्रीमहाप्रभुने वैष्णवधर्म और संस्कृति की मशालको अपने सुदृढ हस्तोंमें धारण किया था! देशके कोने-कोनेको उससे प्रकाशित करनेको जूझते रहनेवाले व्यक्तिको इतनी कमजोर इच्छाशक्तिवाला माननेमें कौनसा गौरव सिद्ध होता है? वर्ण-आश्रम जाति-रिग निम्नवर्ग-उच्चवर्ग देशी-विदेशी के भेदके बिना सभी व्यक्तियोंके हृदयको पुष्टिभक्तिके उपदेशसे भावपूरित श्रीमहाप्रभुने कर दिया था. ऐसे व्यक्तित्वके घनी श्रीमहाप्रभु वीहड जंगलोंमें वर्षा-शीत-आतप आदिकी परवाह किये बिना निरन्तर परिभ्रमण करते रहे—विदेशी आक्रामकोंसे आतंकित नगर—जनपदोंमें बसनेवाली जनतामें निरन्तर आस्थाका सञ्चार करते रहे. वे स्वयम् दो बारकी बीमारियोंसे घबराकर आत्मघात करें यह कल्पना कैसे बुद्धिसंगत मानी जा सकती है? जबकि वे जनताको—“त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृते सर्वतः सदा” का उपदेश देते रहे! अतः—

आज्ञापूर्वं तु या जाता गंगासागरसंगमे ।

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्-द्वयं मया ॥

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ॥

इन शब्दोंमें सस्ती अन्तर्वाणी या संघर्षजन्य श्रान्ति या शारीरिक अस्वास्थ्यजन्य निराशा और भगवदाज्ञाकी भ्रांति को खोजना श्रीमहाप्रभुका अनादर है—उनकी अनुभूतिकी आध्यात्मिक-आधिदैविक गहनतासे नितान्त अपरिचयका द्योतन है!

श्रीमहाप्रभुके पौत्र श्रीगोकुलनाथजी इस ग्रन्थका सन्दर्भ यों देते हैं :

द्वादश स्कन्धात्मक श्रीभागवत पूर्णपुरुष पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्का ही नामात्मक स्वरूपमें प्रकट दूसरा रूप है. भागवतकी वाणीके अर्थको प्रकट करनेके लिए ही वाणीके पति तथा भगवन्मुखरूप अग्निका श्रीमहाप्रभुके रूपमें प्राकट्य हुआ (यह रहस्य भागवतकी सुबोधिनी व्याख्याके प्रारम्भमें स्वयम् श्रीमहाप्रभुने ही प्रकट किया है) भागवतपर सुबोधिनी व्याख्या श्रीमहाप्रभुके अवतारका प्रमुखतम प्रयोजन है. दशमस्कन्ध भागवतका हृदय है. प्रथमस्कन्धसे प्रारम्भ कर क्रमशः दशमस्कन्ध तक पहुंचनेमें पर्याप्त विलम्बकी सम्भावना थी. फलतः तृतीयस्कन्धतक पहुंचनेके बाद अविलम्ब दशमस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेकी कहीं एक विशेष भगवदाज्ञा श्रीमहाप्रभुकी हुई (उसका पालन तो सर्वथा हुआ ही. अतः यहां उस आज्ञाका उल्लेख नहीं किया गया है. परन्तु उस आज्ञाके निगूढ आशय तथा अपने अवतारके प्रयोजनकी पूर्तिका सन्तोषोद्गार स्वयम् श्रीमहाप्रभुके मुखसे दशमस्कन्धकी सुबोधिनीके समाप्तिपर प्रकट हो गया है—“प्रकरणमिह पूर्यतेऽनवद्यं त्रयमपि विश्वजयाय मादृशानां, निजपदसमवाप्तये च नित्यं निजगुरुणा हरिणैव लोकवन्द्यम्”)

दशमस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेके बाद श्रीमहाप्रभु पूर्वनिर्धारित योजनाके अनुसार अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या लिखने प्रवृत्त हुए.

भागवतके सातों अर्थोंमें एकवाक्यता स्थापितकर दिखलानेकी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भागवतार्थ—निबन्धमें शास्त्रार्थ स्कन्धार्थ प्रकरणार्थ तथा अध्यायार्थ की व्याख्या लिखी जा चुकी थी. इसी तरह वाक्यार्थ पदार्थ और अक्षरार्थकी व्याख्या भी प्रथम सूक्ष्मटीकामें लिखी जा चुकी थी. पुनः गूढतम रहस्योंको प्रकट करनेके लिए द्वितीय टीका सुबोधिनीका प्रणयन हुआ. यह एक सुदीर्घकालमें पूरी होनेवाली लेखनशैलीमें लिखा जा रहा ग्रन्थ था. भूतलपर उतने विलम्ब तक श्रीमहाप्रभुका विराजना भगवान्को अभिप्रेत न था. अतएव शीघ्र दशमस्कन्धपर सुबोधिनी-लेखनकी आज्ञा हुई और वह परिपूर्ण भी हुई. अब पुनः इसी शैलीमें अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या भगवदभिप्रेत नहीं थी. श्रीपुरुषोत्तमजी अतएव पांचवे और छठे श्लोककी व्याख्यामें कहते हैं : “नच पूर्वाज्ञप्तासम्पूर्तिदोषः यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साज्ञा कृतास्तु, अधिकं

न कार्यम्... इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधान—स्कन्धक्रमव्याख्यास्याजन दशमस्कन्धव्याख्यानानन्तरमसामयिकमाधवभट्टकाश्मीरिशरीरशराहतिप्रभृतिभिः कार्यरनुमीयते.”

गंगासागर और मधुवन में जब सुबोधिनी-लेखनको बन्द करनेकी आज्ञा हुई तो रासपञ्चाध्यायीवाली गोपिकाओंकी तरह श्रीमहाप्रभुने भी इन आज्ञाओंका उल्लंघन करना चाहा. वेणुनाद सुनकर जो गोपिकायें भगवान्के समीप पहुंच पायी उन्हें पुनः घर लौट जानेकी भगवान्ने आज्ञा दी थी, पर वे लौटी नहीं. श्रीमहाप्रभुने भी इसी तरह लेखन-कार्य बन्द नहीं किया. भगवदाज्ञाके उल्लंघनके इन दोनों प्रकारोंमें किन्तु एक विशेष अन्तर यह था कि गोपिकाओंने भगवत्स्वरूप-सुखके लिए भगवद्-वाणीका उल्लंघन किया था, जबकि श्रीमहाप्रभुको भगवद्वाणीका उल्लंघन नामसेवार्थ भगवद्-विप्रयोगको सहते हुए करना पड रहा था. फलतः सूक्ष्मटीकाका तिरोधान हो गया. चतुर्थसे नवमतककी व्याख्या छोड़कर दशमस्कन्धकी व्याख्या लिखनेका भगवदादेश भी हुआ ही था और पुनः अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या लिखनेकी प्रवृत्त होनेपर लिपिकार श्रीमाधव भट्ट काश्मीरी किसी पारधीके तीरसे आहत हो गये. यों सारी प्रतिकूलतायें केवल प्रतिकूल भगदिच्छाकी अनुमापिका थी. तभी तृतीय भगवदाज्ञा हुई—लोकगोचर देह-देश-परित्यागकी. इस तृतीय भगवदाज्ञामें भगवदाग्रहकी स्पष्टता हुई. श्रीमहाप्रभु अतएव अपने आग्रही मनको भगवदाग्रहके अधीन होनेको मना रहे हैं.

“मेरे अन्तःकरण ! मेरी बात सावधानीसे सुनो कि कृष्णसे उत्कृष्ट एवम् निर्दुष्ट कोई तत्त्व न है और न हो सकता है. भागवतकी सुबोधिनी व्याख्या पूर्ण करनेके लिए जिन दो भगवदाज्ञाओंका उल्लंघन किया था वह अपने आग्रहिल अन्तःकरणके कारण ही हुआ. अन्तःकरणको भगवदाग्रहके अधीन होनेको समझाया जा सके तो अन्य सभी देहेन्द्रियादिकी वृत्ति और प्रवृत्तियों पर काबू पाया जा सकता है.”

वैसे तो भागवतकी व्याख्याका प्रयोजन अन्ततः श्रीकृष्णके स्वरूपमें आसक्ति सम्पादित करना ही था. पर यह समस्या श्रीमहाप्रभुकी नहीं किन्तु अन्य पुष्टिजीवोंकी थी. भागवतके वास्तविक अर्थको प्रकट करनेसे पुष्टिजीवोंका उपकार होगा. वे श्रीकृष्णकी पुष्टिलीलाके वास्तविक रहस्यको समझ

कर उसमें आसक्त हो पायेंगे. जहांतक श्रीमहाप्रभुका प्रश्न है तो उन्हें तो इस प्रक्रियामें भागवतकी लौकिकी भाषा और परमतभाषा का भी चिन्तन-मनन-व्याख्यान करना ही पड़ता था. केवल भगवल्लीलाके मनन या प्रवचन तक सीमित रहा नहीं जा सकता. यों अनेक पुष्टिजीवोंके उद्धारार्थ परोपकारकी मनोवृत्तिसे श्रीमहाप्रभु स्वयम् भगवद्-विप्रयोग सहते उद्यत हुए थे.

जितना व्याख्यान सम्पन्न हो चुका वह पुष्टिजीवोंको पुष्टिमार्गपर प्रवृत्त करनेके लिए पर्याप्त है. इससे अधिक परोपकारकी आवश्यकता नहीं है. सर्व-निर्णय-निबन्धमें श्रीमहाप्रभु स्वयम् यह निर्णय दे चुके हैं कि भगवत्सेवाके अवसरमें हिस्सा बंटानेवाले धर्मोंका त्यागकर देना चाहिये. परोपकारादि धर्म भी यदि भगवत्सेवामें बाधक होते हों तो छोड़ देने चाहिये. “एतद्विरोधित्किञ्चित् तत्तु शीघ्रं परित्यजेद् । धर्मादीनां तथा चास्य तारतम्यं विचारयन् ॥ २३९ ॥ एतद्विरोधोति सामान्यवचनं धर्मादीनामुपलक्षणं...परोपकारादि सर्वधर्माणामपि क्षयिष्ण्वेव फलम्. अतः उभयोरन्तरं ज्ञात्वा परोपकारादिधर्माः न कर्तव्याः, यदि पूजाविरोधिनो भवन्ति”. कोई धर्म या कर्तव्य भगवत्सेवामें सहायक होता हो तो अनुष्ठेय है अन्यथा भगवत्सेवामें बाधक होनेपर परोपकार आदि धर्म भी त्याज्य समझने चाहियें. फलतः आत्मसमर्पण के बाद भगवत्सेवासे अधिक और कोई भी कर्तव्य पुष्टिजीवका हो ही नहीं सकता.

श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं कि समर्पणसे पूर्व सभी पुष्टिजीवोंकी स्थिति अस्पृश्य कुलमें उत्पन्न किसी सुन्दर स्त्रीकी तरह होती है. पर आत्म-समर्पणके बाद इन्ही पुष्टिजीवोंकी स्थिति, उक्त सुन्दरी यदि किसी राजाके मनको भा जाये और वह उसे अपनी रानी बना ले ऐसी, सम्मानपूर्ण हो जाती है. इस असाधारण सम्मानकी प्राप्तिपर अभिमान भी कभी पैदा हो सकता है. और उस अभिमानके कारण कभी अपमानित होनेका अवसर भी प्राप्त हो सकता है. परन्तु अपनी पूर्वावस्थाकी अधमताका विचार करनेपर प्राप्त सम्मानित अवस्थामें थोडा-बहुत अपमान पश्चात्तापका विषय नहीं लगेगा. क्योंकि राजाके द्वारा अपमानित भी रानी जगतमें तो सम्माननीय ही मानी जाती है.

इसी तरह किसी प्रौढीभाववश भगवदाज्ञाके उल्लंघन करनेके कारण

अपमानित भी होना पड़े तो अपनी पहलेकी असमर्पित अवस्थाका विचार करना चाहिये. जिस पुष्टिजीवने सर्वसमर्पण कर दिया उसे मानापमानकी क्या परवाह ? उसका कर्तव्य तो केवल भगवदाज्ञाके अनुसरणमें ही निहित है.

पुष्टिसृष्टि प्रभुने अपनी स्वरूप-सेवाके लिए प्रकट की है. भगवान् तो सत्यमकल्प है, अतः भगवदाज्ञा शिरोधार्य करना ही पुष्टिजीवका प्रथम कर्तव्य है. अन्यथा स्वामिद्रोहका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा. और फिर चाहे विलम्बसे या अविलम्ब, जो फल हमारे स्वामी हमें देना चाहते हैं, वह तो स्वयमेव देंगे. अतः फलविलम्बकी चिन्ता किये बिना हमारा कर्तव्य है हमारे स्वामीकी आज्ञाका पालन करना.

पहले गंगा-सागरके संगमपर और बादमें मधुवनमें जो दो भगवदाज्ञा प्राप्त हुई थी उनका पालन न हो पाया. अब तृतीय भगवदाज्ञा लोकगोचर देह-देश-परित्यागकी हुई है (अर्थात् आसुर व्यामोह-लीलाकी) ^१ इस आज्ञाका तो पालन करना ही पड़ेगा. फिरभी इसमें पश्चात्तापका कोई विषय नहीं है. जब हम सेवक हैं—जब हमारा सब कुछ हमारे स्वामीको समर्पित है—फिर लोकगोचर देह-देशके परित्यागकी आज्ञामें पश्चात्ताप कैसा !

हमारे स्वामी श्रीकृष्ण रुष्ट होनेपर किसी लौकिक स्वामीकी तरह निर्दय बन जायेंगे ऐसा तो सम्भव नहीं है. उनकी तो प्रत्येक आज्ञामें हमारा परम हित एवम् चरम सुख रहा हुआ है. अतः सब कुछ जब अपने स्वामी श्रीकृष्ण को भक्तिपूर्वक समर्पित कर ही दिया है तब और क्या करनेको शेष रह जाता है ? अतः आज्ञाके पालनमें ही अपनी कृतार्थताका अनुभव करना चाहिये और सुखी रहना चाहिये.

कभी—कभी विवाहिता पुत्रीके वयस्क हो जानेपर भी उसे उसके पतिके पास सुसराल भेजनेको पिताका मन नहीं मानता है. ऐसे वात्सल्य या मोह के वशीभूत होकर वह अपनी पुत्रीका हित करता है या अहित ? पुत्रीको उसके निजस्वामीके पास न भेजनेपर कन्यादानका क्या अर्थ रह जाता है—कोई पति ऐसी पितृगेहवासिनी पत्नीसे कैसे सन्तुष्ट हो पायेगा ?

१. प्राचीन सभी व्याख्याकार क्रमशः देहत्यागकी प्रथम आज्ञा देशत्यागकी द्वितीय और लोकत्यागकी तृतीय आज्ञा, अर्थ स्वीकारते हैं.

अपने देहके साथ भी ऐसा ही मोहजन्य व्यवहार देहके स्वामी श्रीकृष्ण को कैसे सुहायेगा ? कैसे सन्तुष्ट कर पायेगा ? अतः यह विचार करना चाहिये कि आत्मसमर्पणरहित अन्य लौकिक जनोंकी तरह हमारी भी स्थिति होती तो क्या होता ?

शरीरका हठात् त्याग करना अशक्य कार्य लगता है. परन्तु सर्वदुःखहर्ता श्रीहरिके स्वरूपका विचार करना चाहिये कि साक्षात् नित्यलीलामें नित्य संयोग—सुखका दान, जब वे करना चाहते हैं तो दुःख कैसा ? अतः किसी भी प्रकारके मोहकी आवश्यकता नहीं है कि प्रभु लौकिक स्वामीकी तरह रुष्ट हों जायें तो क्या करना—या फलदानमें प्रभु विलम्ब करेंगे तो क्या होगा—या देह-देशके लोकगोचर त्याग करने पर पुष्टिजीवोंका उद्धार कैसे होगा—या श्रीमद्भागवतकी व्याख्या सुबोधिनी सम्पूर्ण नहीं हो पायी इत्यादि-इत्यादि.

अपने इस अन्तःकरणके प्रबोधनको ग्रन्थके रूपमें उपनिबद्ध कर श्रीमहा-प्रभुने यह प्रकट कर दिया है कि निज अन्तःकरणके उपदेशके व्याजसे श्रीमहा-प्रभु उन सारे पुष्टिजीवोंके अन्तःकरणको सम्बोधित तथा प्रबोधित करना चाहते हैं, जिनमें भगवत्सेवासे अन्य किसी आध्यात्मिक या आधिदैविक फल प्रयोजन या कर्तव्य के प्रति अधिक आकर्षण पैदा हो सकता है. अतएव “तव कथामृतं तप्तजीवनम्” की सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने विवेचन किया है कि अमृतकी आवश्यकता मृत्युके उपस्थित होनेपर है. अन्यथा स्वतः अमृतपानकी प्यास किसीको भी नहीं होती. इसी तरह भगवान्के स्वरूप और भगवान्की कथामें भी घनीभूत रस और तरलीभूत रस का सा अन्तर होता है. अन्यथा रासमें भगवान्के तिरोहित हो जानेपर उन्हें खोजनेके बजाय गोपीजनोंने भी भागवत कथाका आयोजन किया होता ! “रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च विशेषः अन्यथा कथार्थमेव यत्नः कृतः स्यात्.” अतएव “सेवायां वा कथायां वा” में ‘सेवा और कथा’ मुख्य कल्प हैं जबकि ‘सेवा अथवा कथा’ गौण कल्प है.

अतः सभी पुष्टिजीवोंको निश्चिन्त होकर यह निश्चित कर लेना चाहिये कि “भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नायथा भवेत्.” अर्थात् भागवत-कथा भी वस्तुतः भगवत्सेवाका अंग हो तो उत्तम कल्प है अन्यथा गौण कल्प या अनुकल्प ही

है. इस तरह श्रीमहाप्रभु सेवांगभूत अन्तःकरणकी शुद्धिका प्रकार उसे भग-
वान्की सेवामें अनन्यरुचि होनेकी प्रेरणाके द्वारा इस ग्रन्थमें दे रहे हैं.

प्रस्तुत संस्करण वि सं. १९८१ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस
द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण श्रीजीवनेशात्मज श्रीरण
छोडलाल महाराजश्रीके प्रबन्धमें श्रीचीमनलाल हरिशंकर शास्त्रीजीने उस
संस्करणका सम्पादन किया था. आर्थिक सेवा अनेक वैष्णवोंने मिलकर की
थी. इन सभी महानुभावोंका हम कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं. इति शम्.

उ दा हा र.

अन्तःकरणप्रबोध ग्रन्थ प्रकट करतां अमोने सहज आनंद स्थरे छे. आ ग्रन्थ श्रीसुभोधि-यादि
आलेआया पछी परिश्रित अवस्थांमां लभायेव होवाथी मार्गधि भूधन्य सिद्धान्तुं सिद्धाव-
लोकन क्युं छे. तेथी श्रीमहाप्रभुछनुं प्रलुसह सातुलावतानुं प्रदर्शन अने अतिहासिक प्रकाशने
लाल आ ग्रन्थद्वारा उपलब्ध थाय छे.

अन्तःकरणना मन, चित्त अम सामान्य पर्येथी टीकाकारोअे स्वीकार्यां छे. मन विगेरेनुं
स्थान हृदय गोलक होवाथी हृदयवायक अन्तःकरण शब्दने अत्र प्रयोग छे. श्रीपुरोत्तमछ
कहे छे क-मनने वश करे ते हेवने देव नान्यवे। आ प्रभाषानुसार मनने न साधवा भाटे
अन्तःकरणप्रबोध छे. मननुं स्वरूपलक्षण-संस्कृतिकल्पामक मनः । कार्यलक्षण कामजनकत्वं मनः ।
आ अने लक्षण आध्यात्मिक थयां. 'आधिदैविक लक्षण तो 'अनिहदात्रिभूतस्थानत्वम्' छे. आधि-
लौकिक लक्षण योगिभिः शनैः संराध्यत्वम् । मननुं अल्य परिभाष्य छे. अन्त हेवता छे. कामः
सहस्रवः त्रिचिह्नैवा ब्रह्माऽब्रह्मा विगेरे मनना गुण्य छे. तेथी ते चिन्ता करे अे स्वाभाविक छे.

वस्तुतस्तु सेवकने चिन्तारहित करी सेवकनी सेवा आधिदैविकी अने अेव मुभ्याशय आ
ग्रन्थने छे. आ आशयने स्वअन्तःकरणना व्यपदेशी लक्षणांतःकरणने न श्रीमहाप्रभुछ उपदेशे
छे. अन्तःकरणे लगवाननी आज्ञानुं उल्लंघन क्युं, देह अने देशत्यागनी आज्ञा न पावी तेथी
अपराधी थयुं. तेने उपदेश आपवे न जेअे. श्रीगोपीजनोअे लगवदाज्ञानुं उल्लंघन क्युं
हनुं. श्रीमहाप्रभुछे देहदेशत्याग करवानी आज्ञानुं उल्लंघन क्युं; तो सेवक पण्य करी. आनी
रीते लगवदाज्ञाने उल्लंघन करवानी प्रथा मार्गमां यालु यवाना लयथी अन्तःकरणप्रबोध
ग्रन्थने प्रादुर्भाव थयो, अम कहेनुं नराय अतिशयोक्ति अरेलु नथी. आ वात सेवकने समजववा
श्रीकृष्णनी उल्लंघता साधवा श्रीकृष्णथी पर द्राघं उतम देव नथी, अम साणीत क्युं छे. श्री
पुरोत्तमछ कहे छे क-श्रीकृष्णथी देव अेटले देवीने समूह गोपीजनो-पर-अेटले उल्लंघ नथी
लिन नथी, भाटे तेमने दापवे लघ आज्ञालंग न करवे। सामान्य रीते टीकाकारो आज्ञाना
विषयो आ प्रभाषे आलेअे छे.

- १ नित्यलीलांमां-लागवतार्थ प्रकट करवाने भाटे लूतलपर प्रकट थवानी आज्ञा,
- २ परदेशमां-वियोग न सही शकवार्थी त्रण्य स्कन्ध पछी दशमस्कंध विवरण्य करवानी आज्ञा.
- ३ गंगासागरमां-देहत्यागनी आज्ञा.
- ४ मथुरामां-देशत्याग करवानी.
- ५ लोकगोचर आज्ञाना अे अर्थ छे-संन्यास करवानी अथवा लोकोद्धार करवानी.

(आ आज्ञा पाणी.)

आ आज्ञांमां देहदेशपरित्यागनी आज्ञा न पाणी अे सामान्य मूल हेतु छे. आस
पालन नथी थयुं. अेनुं कहेनुं अेना करतां आज्ञानुं पालन थयुं छे अंनुं भर्मे जे श्रीमहा-
प्रभुछना-शब्दमां निकणतुं न होय तो सुरभ्य गणाय अेवा आशयथी श्रीपुरोत्तमछ दिह
उपययार्थ लघ अने दिह अतिसर्जन दानार्थ लघ अेवे। अर्थ करे छे क, ग्रन्थ आहुत्य अने
उपदेशदानादिने लाग करे, अेवी लगवदाज्ञा थघ, ते आज्ञानुं पालन थघ न थयुं छे.
कारण्य के सक्षमटीकातिरोधान, स्कन्धक्रम व्याख्याने त्याग, दशमस्कंधविवरणानन्तर श्रीमहा-
प्रभुछना लेपक माधवलट्ट कारिभरीने आण्य वाग्युं अने ग्रन्थआहुत्यमां विह आण्युं, विगेरे
कार्योथी ग्रन्थआहुत्य अने दान उलय अंध पक्षां अने आज्ञानुं पालन थयुं छे.

આધુનિક કેટલાક અત્ર શ્રીકૃષ્ણદાસસ્ય વલ્લભસ્ય આ શબ્દમાં શ્રીમહાપ્રભુશ્ચ શ્રીકૃષ્ણના દાસ હતા પરંતુ કૃષ્ણ કે-આચાર્યનો દાવો કરતા ન હતા. એમ કહી દીનતાદ્યોતક દાસ શબ્દનો ગેરઉપ-યોગ કરે છે. શ્રીમહાપ્રભુશ્ચ પોતાને દાસ કહે છે, તેનો કહેવો સુંદર આશય છે તે જોવા શ્રમ લેશે. શ્રીમહાપ્રભુશ્ચ તે પોતાને દાસ કહે છે તે સાક્ષાત્ શ્રીકૃષ્ણ કેમ કહેવાય ?

નદ્વ દાસત્વકૃણત્વે વિદ્ધે ભવતઃ કથમ્ ।
 एवं हि संशये कार्या सद्भिरेवं समाहितिः ।
 एवं हि भगवान् कृष्णो रसात्मा यत्र यादृशः ।
 रसात्मत्वात् तदास्यं च मन्दव्यं तादृशं पुनः ।

બતો દાસ્યરસાર્થાય પ્રાદુર્ભૂતં તદાત્મના । સ્વીયદૈન્યભાવનિક્ષપકમ્ । (શ્રીગોકુલનાથશ્રી) પુષ્ટિમા-ગાયકરૂપદાસ્યં પ્રાપ્તસ્ય વિગેરે અનેક વચનોથી સિદ્ધ જ છે કે રસરૂપ ભગવાને દાસ્ય મેવા રસથી ભરેલા શ્રીમહાપ્રભુશ્ચને પ્રકટ કર્યા તેથી આ દાસ્યમેવારસ શ્રીમહાપ્રભુશ્ચમાં હોવાથી જ તે સાક્ષાત્ શ્રીકૃષ્ણ અથવા આચાર્યપદભૂષણ છે.

સૂક્ષ્મ ટીકાના તિરોધાન થવાની વાત શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચ જ કહે છે. શ્રીમજ્જરાયશ્ચની ટીકામાં પણ આપ જ સ્વહસ્તાક્ષરથી શોધે છે. સૂક્ષ્મટીકાનું તિરોધાન શ્રીગુંસાષ્ટજના વખ-તમાં પરસ્પર વૈમનસ્યના કારણથી થયું છે પરંતુ આ પ્રભુની ઇચ્છાથી માનનાર સેવકને તે શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચએ કહ્યું તે જ માનવું યોગ્ય છે કે પ્રભુની અતિરહસ્યોદ્ઘાટન કરાવા ઇચ્છા ન હતી, માટે તિરોધાન થયું. પરંતુ શ્રીસુબોધિનીશ્ચ તે સમ્પૂર્ણ લખાયાં નથી એ વાત નિર્વિ-વાદ છે. શ્રીગોકુલનાથશ્ચ શ્રીમહાપ્રભુશ્ચના નિકટ પ્રકટેલા છે. આ સ્કન્ધક્રમલાગ કરવાનું વૃત્તાન્ત તેમને મળ્યું છે અને તે પોતાની ટીકામાં લખે છે.

શ્રીપુરુષોત્તમચરણે 'બ્રાહ્મ પૂર્વંતુ યા જાતા' શ્લોક ઉપર એક સ્વતંત્ર લેખ સ્વહસ્તાક્ષરથી જ લખ્યો છે, અન્ય કોઈ પ્રતિમાં નથી. આ લેખ ચાલુ જ ગ્રન્થમાં તેજ શ્લોક નીચે મુક્યો છે. આ સ્વતંત્ર લેખ શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચએ ગ્રન્થ કર્યા પછી કેટલાક સમય વિલાપાદ લખ્યો હોય તેમ જણાય છે. મૂલ ગ્રન્થમાં બે આજ્ઞા ન પાળવાનું કારણ " તદ્કરણે ભોજન્તુ નામિમાનો ન વા શાસ્ત્રવિરોધઃ કિન્તુ શ્રીભાગવતાર્થપ્રકટનાર્થાન્નાકાર્યસમ્પત્તિરિવ " લખે છે. અને સ્વતંત્રમાં તત્કૃતૌ સર્વે બ્રાહ્મણ ન સ્યાત્, તેન ચ સ્વાઙ્ગીકૃતાનામનુદ્ધારઃ સ્યાત્, તેન ભોમયાય (સ્વલ્ય મગવતશ્ચ) કરુણત્વં ન સ્યાત્ આવી રીતે બન્ને આજ્ઞા ન પાળવાનું કારણ સરખું જ છે. પરંતુ તૃતીયાજ્ઞામાં ભેદ પડે છે. મૂલ ટીકામાં લોકગોચર પદનો અર્થ સંન્યાસ કરે છે અને સ્વતંત્ર લેખમાં લોકગોચરનો અર્થ લોકપ્રસિદ્ધ સર્વોદ્ધાર કરવાની આજ્ઞા, (જે નિલક્ષીલામાં શ્રીમહાપ્રભુશ્ચને શ્રીહાકુરુશ્ચએ કહી હતી તે સર્વોદ્ધાર) અર્થ કરે છે. એમ સ્વતંત્રમાં ત્રણ આજ્ઞાનો પણ ભેદ પડ્યો. તેથી અમુક સમય પછી આપનો વિચાર ઉદ્ભવ્યો તે સ્વતંત્રરૂપે લખાયો હોય એમ લાગે છે. યદ્યપિ ટીકાના અક્ષરો એક સમયે લખાયા હોય એમ જણાય છે. સાહી અક્ષરનો મરેાઢ વિગેરે બોતાં એકજ સમયે આ ગ્રન્થ સાથે આ સ્વતંત્ર લખાયો હશે એમ અનુમાન થાય છે પરંતુ ગ્રન્થનું વિવરણ પૂર્ણ થયા બાદ લખ્યો અને આજ્ઞાપૂર્વંતુ શ્લોકનો વિકલ્પે દ્વિતીયાશય દર્શાવવાનો હેતુ શ્રીપુરુષોત્તમચરણનો હોવો બોધ્યે એમ સ્પષ્ટ છે.

આખા ગ્રન્થનો સાર શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચની ટીકાના અનુવાદના અંતિમ ભાગમાં છે. માટે પુનઃ લખતા નથી.

શાસ્ત્રી ચીમનલાલ. 'સાહિત્યભૂષણ' 'શુદ્ધાદૈતરત'

સુદ્રણપરિચાયક.

આ ગ્રન્થમાં અનેક પ્રતિ સમ્પાદન કરી છે. મારા સહલાગ્યે શુદ્ધ અને પ્રાચીન પ્રતિ પ્રત્યેક ટીકાની હસ્તગત થઈ ગઈ, તેમાં શ્રીમજ્જરાયશ્ચની ટીકા તે શ્રીમજ્જરત્તલાલશ્ચ મહારાજ તરફથી ઉપલબ્ધ થઈ તે શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચએ સ્વહસ્તાક્ષરથી શોધિતવર્ધિત હોવાથી એક પ્રતિએજ સુદ્રણકાર્યસમ્પૂર્તિ કરી. શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચની ટીકા તે નિજહસ્તાક્ષરથી જ આલે-ખેલી છે. તેથી અન્ય પ્રતિના સહલાગ્યે પણ તેનાથી જ કાર્યસંસિદ્ધ થયું. મને અન્ય પ્રતિ બોઢે-સંવાદિત કરતાં સમબળયું કે મૂલ લેખક પછી અત્યારે સો બસો વર્ષની અંદર અવતરણ કર-નારા અતીવ અશુદ્ધ કરી દે છે. શ્રીહરિરાયશ્ચની પ્રતિ માટે હું સંકાચાતો હતો પરંતુ મહાશય તેલીવાલા તરફથી પંડિતવર્ચ મટુલાલાશ્ચની સંસ્થાની એક નાણુક પ્રતિ ઉપસ્થિત થઈ કે જે શુદ્ધ અને પ્રાચીન હતી. સંતોષકારક હતી,

હવે પ્રત્યેક ટીકાની ખંડશઃ ગણના કરીએ.

(૧) શ્રીગોકુલનાથચરણની ટીકા-

પોરબંદર-શ્રીજીવનેશાચાર્યપુસ્તકાલયની	પ્રતિ. ૨
કોટા-શ્રીહોટામથુરેશ્ચની શ્રીરણજીડલાલશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ. ૩
સુરત-શ્રીમજ્જરત્તલાલશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ. ૧
મુંબઈ-શ્રીગોકુલનાથશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ. ૨
મુંબઈ-શ્રીગોકુલાલાશ્ચની સંસ્થા. શ્રીયુત તેલીવાલાદ્વારા	પ્રતિ. ૧

(૨) શ્રીરઘુનાથચરણની ટીકા-

જુનાગઢ-શ્રીગોકુલનાથશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ. ૧
સુરત-શ્રીમજ્જરત્તલાલશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ. ૧
મુંબઈ-શ્રીમજ્જરત્તલાલશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ. ૧

(૩) શ્રીહરિરાયચરણની ટીકા-

પોરબંદર-શ્રીરણજીડલાલશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ-૧
મુંબઈ-મહાશય મૂલચન્દ્ર તેલીવાલાદ્વારા	પ્રતિ-૧
પોરબંદર-સુરદાસશ્ચ દામોદાસ ભગવદીયદ્વારા	પ્રતિ-૧

(૪) શ્રીમજ્જરાયચરણની ટીકા-

સુરત-શ્રીમજ્જરત્તલાલશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ-૧
-------------------------------------	-----	-----	-----	-----	---------

શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચ મહારાજને સ્વહસ્તાક્ષરથી શોધિત વર્ધિત હોવાથી આ એક જ પ્રતિએ સમ્પૂર્ણ સુદ્રણ કાર્ય યથાયોગ્ય સિદ્ધ થયું. આ ટીકાની અન્યપ્રતિ અનેક સ્થલે શોધવા છતાં ઉપલબ્ધ થતી નથી, જે ભાગ શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચ મહારાજને સ્વહસ્તાક્ષરથી સમ્પૂરિત કર્યો છે તે ભાગ અમે () કાઉસમાં મુક્યો છે. અને બે સ્થલે ત્રણ ચાર અક્ષર બેટલો ભાગ વધિત થએલ છે. વધારે ખંડિત થયો નથી તે ભાગ.....ચિન્હથી જણાવ્યો છે.

(૫) શ્રીપુરુષોત્તમચરણની ટીકા

સુગત-શ્રીમજ્જરત્તલાલશ્ચ મહારાજદ્વારા	પ્રતિ-૧
--------------------------------------	-----	-----	-----	-----	---------

(આજ પ્રતિ નિજહસ્તાક્ષરની છે.)